IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

ब्रिटिषकालीन भारत में विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आयुर्विज्ञान

डॉ0 मो0 इमरान काजमी

S/O- मो0 इनाम

मु0–मनहरनलाल, खानकाह चौक, पो0–लालबाग, जिला–दरभंगा

सार–संक्षेप

भारत में विज्ञान के इतिहास में राजदरबारी या क्षेत्रीय सत्ता–केन्द्रों और देहातों के बीच अथवा पुराने और नए नगरों के बीच बार–बार तनाव की स्थिति बनती रही। औपनिवेशिक विज्ञान से भारत के तीन समुद्रतीय महानगरो–कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की सांस्कृतिक, व्यापारिक और राजनीतिक तरक्की में जो भी वृद्धि हुई हो, यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन महानगरों के विकास में उन शिल्पकारों और बुद्धिजीवियों का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है, जो उत्पादन और ज्ञान के केन्द्रों में निकलकर इन तक आए थे। फिर बनारस और दिल्ली जैसे अधिक पुराने ज्ञान केन्द्र थे जिनमें समय के अनुरूप अपने को ठालने की अद्‌भूत क्षमता थी। यह रेखांकित करने लायक तथ्य है कि भिन्न गंगारर के किनारे चार महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर अवस्थित लाहौर, लखनऊ, इलाहाबाद और ठाका के विश्वविद्यालयों में 1940 के दशक तक विज्ञान विभाग पूरे उत्कर्ष पर थे।

शब्द कुंजी : औपनिवेषिक काल, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान

प्रस्तावना

ब्रिटिशकालीन भारत में विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आयुर्विज्ञान को मूलतः पाश्चात्य विचारों, व्यवहारों और प्रविधियों के प्रवेश तथा प्रसार के आख्यान के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। ऐसे चित्रण देशी वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और चिकित्सीय परम्पराओं अथवा उपनिवेश में व्यवहृत विज्ञान तथा यूरोप की राजधानियों में प्रतिपादित विज्ञान के बीच खींचतान की उपेक्षा कर देते हैं। अगर वे देशी वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और चिकित्सीय परम्पराओं का उल्लेख करते भी हैं तो निषेधात्मक रूप में, अर्थात् उन्हें तर्कहीन असंगत और विज्ञान की युक्तिसंगत प्रगति का परम्परागत विरोधी मानते हैं अथवा फिर यह मानते हैं कि उनकी वंश परम्परा परवर्त्ती 18वीं सदी में पाश्चात्य ज्ञान की नई रोशनी के फैलने में नष्ट हो चुकी है। परन्तु पिछले वर्षों में भारत में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान का जयों–ज्यों विस्तार हुआ है तथा स्वयं पाश्चात्य विज्ञान का स्वरूप अधिकाधिक समीक्षात्मक मूल्यांकन का विषय बनता गया है, त्यों–त्यों भारतीय और पाश्चात्य विज्ञान के पारस्परिक संबंध को एकल आयामी क्रम और संश्लिष्ट अधिक माना जाने लगा है। एक रूप और प्रगतिशील पाश्चात्य विज्ञान को यूरोप के बाहर के देशों में आँख मूँद कर स्वीकार कर लिया गया, इस धारणा को अने चुनौतियाँ मिली है। भारत में 18वीं सदी के अंतिम चरण में प्रारम्भ विज्ञान के संबंध में अंतःक्रियाशील तथा क्षेत्र–केन्द्रित दृष्टि से की गई व्यवस्था भी इन्हीं चुनौतियों में एक है।

परन्तु एक पुरानी पड़ती परम्परा के प्रति विद्‌यमान मोह के संबंध में भी सम्यक विदेयन आवश्यक प्रतीत होता है। पाश्चात्य विज्ञान के प्रसारवादी प्रतिमान के संबंध में 1967 ई0 में जार्ज बासल्ला[1] का एक महत्त्वपूर्ण कथल उल्लेखित है। यद्यपि इसका कथन अब पुराना तथा एकपरतीय जान पड़ता है, फिर भी औपनिवेशिक विज्ञान पर आज भी चल रहे विवाद के मद्देनजर उसके मत को सारांशबद्ध करना अप्रासांगिक नहीं होगा। बासल्ला का प्रशन था, आधुनिक विज्ञान, अपने मूल स्थान पश्चिमी यूरोप से किस प्रकार बाहर फैला और कौन विश्व में उसका स्थान बना पाया? उसके अनुसार यह विकास–प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी हुई। प्रथम, यूरोपवासियों ने पाश्चात्य सर्वेक्षण, व्यापार, विजय–अभियान और उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के एक अंग के रूप में नए देशों से संबंध स्थापित किए। उन्होंने वैज्ञानिकेत्तर समाज से मानचित्रों और सर्वेक्षणों के द्वारा आंकड़े, खनिज द्रव्य, पौधों और जंतुओं के नमून प्राप्त किए। इस चरण में प्रकृति के क्रमबद्ध दोहन में यूरोप की अभिरूचि मुख्य रूप में जिन विज्ञानों में थी वे थे वनस्पति विज्ञान और जन्तु विज्ञान। इसके बाद खगोल विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान और भूगोल का स्थान रहा। यद्यपि व्यापारिक प्रयोजनों के कारण भी इस वैज्ञानिक सर्वेक्षण को प्रोत्साहन मिला, परन्तु बासल्ल ने उस वैज्ञानिक संस्कृति को अधिक महत्त्व दिया है जिसे लेकर यूरोपवासी आए तथा जिसके पास अपने अनुसंधानों के परिमाप भी पहुँचाए। इस प्रथम वरण का विज्ञान विश्व में बिखरा तो अवश्य, किन्तु इसके ठीक से समझने, आंकने तथा उपयोग में लाने का काम ब्रिटेन, हालैंड तथा फ्रांस जैस ''आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति'' में सम्पन्न देशो ने ही किया। इधर नई जानकारियों के आलोक में पाश्चात्य विज्ञान ने भी अपने को संशोधित परिदृक्त किया।

दूसरा चरण स्थानीय स्तर पर पनपने वाले औपनिवेशिक विज्ञान का था। यह भी कह सकते हैं कि इसमें आवासी वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक क्रिया–कलाप में भाग लेना शुरू किया जिसके फलस्वरूप स्थानीय स्तर पर वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना होने लगी। प्राकृतिक इतिहास में अभिरूचि तो बनी रही, किन्तु यूरोप में चल रहे अनुसंधानों से सम्बन्धित प्रायः सारे वैज्ञानिक विषयों की प्रतिध्वनियाँ समुद्र पार के देशों में सुनाई पड़ने लगी। फिर भी स्थानीय वैज्ञानिक समुदाय यूरोप की सुविज्ञता तथा उसकी संस्थाओं पर आश्रित हो गया और एक बाह्य वैज्ञानिक संस्कृति को अपना आधार मान लिया। बासल्ला ने स्पष्ट किया है कि औपनिवेशिक विज्ञान को पराश्रित रहने का उसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह मूलतः निम्न स्तर का विज्ञान था। उसका दावा है कि इस पद का प्रयोग उसने मात्र भारत जैसे औपचारिक उपनिवेश के लिए ही नहीं, चीन और जापान जैसे गैर–औपनिवेशिक देशों के अथवा स्वतंत्र होने के कई दशक बाद के संयुक्त राज्य अमेरिका के

विज्ञान के लिए भी किया है। पाश्चात्य विज्ञान पर आश्रित होने के फलस्वरूप औपनिवेशिक विज्ञान में जुड़े अनेक लोग यूरोप में प्रशिक्षण लेते रहे और अनुसंधान कार्य भी उन्हीं विषयों में करते रहे, जिनका निर्धारण यूरोपीय विज्ञान करता था। औपनिवेशिक वैज्ञानिक न तो यूरोप के अग्रणी वैज्ञानिक समुदायों में प्रवेश पा सकते थे और न उन प्रतिष्ठित एवं प्रभावशाली अदृश्य महाविद्यालयों तक पहुँच सकते थे जहाँ नवीनतम धारणाओं पर विमर्श होता था तथा नई विषय–सूचियाँ बनाई जाती थी। स्थानीय वैज्ञानिक समुदाय पारस्परिक बौद्धिक उत्प्रेरणा और स्वतंत्र, आत्मपोषित विकास के लिए आवश्यक स्तर का स्पर्श अभी तक नहीं कर पाया था।

समय बीतने के साथ जब प्रशिक्षण प्राप्त कर बड़ी संख्या में वैज्ञानिक स्थानीय स्तर पर काम करने लगे तो इतर यूरोपीय समाज निजी स्वतंत्र वैज्ञानिक परम्परा तथा राष्ट्रीय विज्ञान की स्थापना करने में जुट गए। राजनीतिक स्वतंत्रता ने निश्चय ही वैज्ञानिक स्वायत्तता को प्रोत्साहित किया, परन्तु बासल्ल के अनुसार इसमें अधिक महत्त्वपूर्ण कारक था राष्ट्रीय वैज्ञानिक संस्थाओं एवं सम्मानों का सर्जन। एक ऐसी राजनीतिक, शैक्षणिक और प्रौद्योगिक अंतःसंरचना खड़ी की गई जिसमें स्थानीय वैज्ञानिकों द्वार राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर तथा राष्ट्रीय आकांक्षाओं और प्राथमिकताओं के अनुरूप शोधकार्य को प्रर्याप्त प्रोत्साहन मिला। बासल्ला के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका और हम अपने पश्चिमी यूरोप के पूर्व प्रशिक्षकों को पीछे धकेलते हुए दो विश्वयुद्धों के अंतराल पे ही इस स्तर पर पहुँच गए, जापान, आस्ट्रेलिया और कनाडा विकास क्रम में उनके थोड़ा पीछे रहे, जबकि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अन्य देश बहुत पीछे छूट गए।

किसी अधिक संतोषजनक प्रतिमान के अभाव में बासल्ल का यह वर्गीकरण व्यापक रूप में चर्चित–विमर्शित रहा है, यद्यपि इसे आंशिक स्वीकृति ही मिल पाई है। फिर भी बासल्ला उन विद्वानों में से एक था जिन्होंने औपनिवेशिक विज्ञान की अवधारणा प्रस्तुत की और इसे समुद्रपारीय देशों में आधुनिक विज्ञान के प्रथम प्रवेश तथा राष्ट्रीय विज्ञान और स्वतंत्र वैज्ञानिक परम्परा में इसकी परिणति केबीच का संक्रमणकालीन चरण माना। उसने आयुर्विज्ञान और प्रौद्योगिकी को इसकी परिधि से बाहर रखा। उसमें भी उलझन भरी बात यह है कि उसने उपनिवेशवाद के विभिन्न रूपों में भेद नहीं किया। उसने ब्राजील, जापान, भारत और आस्ट्रेलिया की पृष्ठभूमि और अनुभवां में भिन्नतापर ध्यान नहीं दिया जबकि इनके इतिहास में एक सामान्य अध्येता के लिए भी यह मानना कठिन है कि इन सारे देशों ने एक ही समय सीमा के भीतर समरूप वैज्ञानिक राह पकड़ी। यदि हम उन प्रदेशों की बात छोड़ भी दे जो कभी भी औपचारिक तौर पर उपनिवेश नहीं बने तो भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उत्तरी अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे अधिवासी उपनिवेशों जहाँ मूल निवासियों तथा उनकी संस्कृतियों का लगभग सफाया हो गया और भारत जैसे शोषण के उपनिपेशों, जो औपनिवेशिक सत्ता के अधीन तो रहे किन्तु जहाँ गोरों की संख्या अपेक्षाकृत कम रही तथा देशी संस्कृतियाँ अक्षुण्ण रही, के बीच विज्ञान की भूमिका में भारी अंतर थे।

औपनिवेशिक विज्ञान में बासल्ला का आशय स्पष्टतः सैलानी और आवासी यूरोपीय लोगों में था, यद्यपि यह पद किसी उपनिवेश में गोरो और देशी निवासियों द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले विज्ञान के संबंध में समान रूप में प्रयुक्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त जैसा कि माइकेल अडाम कहता है, बासल्ला के इस मत को उसकी पीढ़ी के विद्वानों द्वारा शायद ही चुनौती दी गई कि विज्ञान मूल्य–निरपेक्ष, वस्तुपरक, अनुभव–सिद्ध, समय की सीमा से परे, फलतः सार्वभौम है। बासल्ला का प्रसारवादी मत एक विकासमान धर्मशास्त्रीय मान्यता पर आधारित था जिसके अनुसार पाश्चात्य विज्ञान का प्रसार विश्व के लिए मंगलकारी भी है और अवश्यंभावी भी।[2] इस अवधारणा में विश्वास के कारण उसने मान लिया कि औपनिवेशिक शासन विज्ञान के विस्तार का इच्छुक तो है ही, वह ऐसा करने का सशक्त माध्यम भी है। उसने इस बात पर विचार नहीं किया कि औपनिवेशिक सत्ता विज्ञान के विकास की गलत व्याख्या भी प्रस्तुत कर सकती थी, अथवा सैद्धांतिक और भौतिक कारणों से महत्त्वपूर्ण औद्योगिकी के प्रसार पर रोक लगा सकती थी। यह भी संदिग्ध है कि राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद भी अनेक पूर्व उपनिवेशों के पास अपने राष्ट्रीय विज्ञान के निर्माण के लिए अथवा वैज्ञानिक महाशक्तियों के एक छोटे से गुट पर निरन्तर निर्भरता के बचाव के लिए प्रर्याप्त साधन थे।[3]

फिर भी, बासल्ला की अवधारणा में निश्चय ही सत्य के अंश विद्यमान है। उदाहरणस्वरूप, प्रथम चरण में वनस्पति तथा जन्तु विषयक विज्ञानों पर दिया गया बल 18वीं शताब्दी के अंतिम तथा 19वीं सदी के आरंभिक वर्षों में भारत के अपने अनुभव में सत्य सिद्ध होता है। बासल्ला अपनी टिप्पणी के अंत में कहता है कि विज्ञान की समीक्षा विभिन्न राष्ट्रीय सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेशों में की जानी चाहिए। परन्तु यह खेदजनक है कि वह अपनी ही स्थापना का अनुपालन नहीं कर पाता। वह यह मानकर चलता है किआधुनिक विज्ञान का उद्‌गम स्थल पाश्चात्य जगत है, अतः वहाँ से इसका प्रसार उन देशों में किया जाना चाहिए जो अबतक विज्ञान की पहुँच से दूर है। वह इस तथ्य की उपेक्षा कर देता है कि भारत तथा चीन जैसे देशों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सुदीर्घ परम्परा रही है। वास्तविकता यह है कि यूरोपीय वैज्ञानिकों ने आरम्भ में इन परम्पराओं की गहरी समीक्षा की और उनमें उन्हें बहुत कुछ ऐसा मिला जिसकी उन्होंने मुक्त कंठ में प्रशंसा की। निश्चय ही भारतीय परम्पराओं को 19वीं सदी में हाशिए पर जाने की लगातार कोशिश की जाती रही, किन्तु व्यवहार और सिद्धान्त दोनों स्तरों पर उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका में अन्तर नहीं पड़ा। बासल्ला के यूरो–केन्द्रित प्रतिमान में गत्यात्मकता समरूपी पश्चिम की ही विशेषता हो सकती थी और शेष विश्व उसको निष्क्रिय रूप में ग्रहण करने के सिवाय मो उसमें कोई मौलिक अंशदान कर सकता था, न कोई आपसी सहमति बना सकता था। उसकी इस मान्यता के विरूद्ध कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक ज्ञान और विज्ञान के सिद्धान्त किसी ग्रहाशील संस्कृति में परिवेश में सक्रिया रूप में पुनः परिभाषित, परिवर्तित और पुनर्गठित किए जा सकते हैं।[4] परन्तु औपनिवेशिक शासन के राजनीतिक–आर्थिक नियंत्रण तथा अंतराष्ट्रय वैज्ञानिक समुदाय के प्रभाव और प्रभुत्व के कारण 1947 के पूर्व यह सैद्धांतिक उच्छेदन सीमित अंश में ही हो सका।

फिर पाश्चात्य विज्ञान के संबंध में यदि उपर्युक्त विस्तारवादी और निष्क्रिया ग्रहणशीलता के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो इस बात की सतही व्याख्या करना भी कठिन हो जाता है कि स्थानीय ज्ञान और विभिन्न देशी उपकरणों में काम लिए बिना, स्थानीय विद्वानों, कलमनवीसो, दुभाषियों, कलाकारों, मछुआरो, वनवासियों के सम्पर्क साधे बिना और आवश्यक जानकारी लिए बगैर पाश्चात्य विज्ञान आखिर किस प्रकार विश्व के अनेक भागों में क्रियाशील हो सका। समय बीतने के साथ इस जातीय श्रेष्ठता के दंभ को अधिकाधिक चुनौती मिलती गई है और ऐसे अनेक वैज्ञानिक अनुसंधानों का मूल स्रोत देशी ज्ञान में पाया गया है। जिन पर एकाधिकार का दावा कलतक पाश्चात्य जगत करता था। दक्षिण एशिया के संदर्भ में तो विद्वानों ने वनस्पति विज्ञान, भूगर्भशास्त्र और त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण जैसे पूर्णतः यूरोपीय स्रोत में उत्पन्न प्रतीत होने वाले औपनिवेशिक विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय अनुसंधानों की देन और महत्ता को स्वीकार किया है।[5]

यदि औपनिवेशिक विज्ञान के विस्तारवादी प्रतिमान को अस्वीकार कर देते हैं तो उसके स्थान पर क्या स्वीकार किया जाय। भारत के जटिल अनुभवों को सिकी चौखटे पे तो नहीं पढ़ा जा सकता, फिर भी इस संबंध में दो विकल्प विचारणीय है। प्रथम विकल्प के रूप में

यह तर्क दिया जा सकता है कि केन्द्र और परिधि के बीच, मातृस्थानीय विज्ञान और औपनिवेशिक विज्ञान के बीच का विभेदीकरण भ्रांति पूर्ण है। यह मूलतः 17वीं शताब्दी और उसके बाद के विज्ञान के अंतराष्ट्रीय स्तर पर विकास का गलत चित्रण करता है। आखिर ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता कि विज्ञान किसी समाज विशेष का स्वत्व न होकर सच्चे अर्थ में सार्वभौतिक है और वह विभिन्न स्रोतों में प्राप्त जानकारियों तथा अवधारणाओं को आत्मसात करता है। मातृस्थानीय विज्ञान का कोई एक निश्चित सत्ता केन्द्र नहीं रहा है। समय के अंतराल के साल मेट्रोपोलिटन बदलते रहे हैं। विज्ञान, चाहे वह यूरोप में हो या अन्यत्र काम करने अथवा सुव्यवसिति करने की एक विधि मात्र है।[6] यदि हम यूरोकेन्द्रित दृष्टिकोण तथा 18वीं और 19वीं सदियों को विशेषाधिकार प्रदान करनेवाली संकीर्ण समय सीमा के बंधन को त्याग दे तो हमें बिल्कुल साफा दिखाई पड़ेगा कि किस प्रकार चीन, भारत, इस्लामी जगत यहाँ तक कि मेसो–अमेरिका ने भी पाराचारिक आदान–प्रदान के द्वारा विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में 1500ई0 के पूर्व उतना ही योगदान किया जितना यूरोप ने परवर्ती 500 वर्षों में किया है। यह भी कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक काल में भी उपनिवेशों के वैज्ञानिक विज्ञान के विकास में समान रूप में भागीदारी थे। अतः उपनिवेशों में तथ्य संग्रह के निम्न विज्ञान तथा मातृस्थान में सिद्धान्त और संश्लेषण के उच्च विज्ञान में विज्ञान के विभाजन को उचित नहीं माना जा सकता। निश्चय ही भारत में वैज्ञानिकों ने 18वीं और 19वीं सदियों में प्राकृतिक विज्ञानों में महत्त्वपूर्ण योगदान किए और इसके लिए अंतराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। अतः औपनिवेशिक वैज्ञानिकों को मुख्यधारा के मेट्रोपोलियन वैज्ञानि समुदाय के निम्नतर अथवा अलग–अलग मानना अनुचित है।[7]

उपर्युक्त व्याख्या औपनिवेशिक विज्ञान के अनेक पक्षों पर छाए धुँधले को दूर कर मेट्रोपोलिटन के प्रति कृतज्ञता के भार से तो मुक्त करती है, परन्तु विस्तारवादी प्रतिमान के एकल आयामी घेरे में हमें अधिक दूर नहीं ले जाती। विशेषकर विज्ञान के राजनीतिक चरित्र को उजागकर करने में यह बासल्ला की भाँति विफल रह जाती है। यह सही है कि कुछ मामलों में भारत विशेष अवधि में अपेक्षाकृत एक विशिष्ट स्थान रखता था, परन्तु वह था तो आखिर एक उपनिवेश ही। चाहे ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन हो अथवा 1858 में उसके अंत के बाद सीधे ब्रिटिश ताज के अधीन, वैज्ञानिक अधिकारिता का एक ऐसा श्रेणीवद्ध संगठन क्रियाशील था जिसने ब्रिटेन तथा उसके वैज्ञानिकों को तो शीर्ष पर रखा। परन्तु भारत के लिए निर्भतर और अधीनता की स्थिति बनाए रखी। ब्रिटिश शासन के अंतिम दशकों में भी, जब कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में अन्य कई क्षेत्रों की भाँति विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान में भी भारत पर शासकीय बंधन शिथिल हो रहे थे, यह विमस्यकारी प्रतीत होता है कि भारत ब्रिटिश प्रभुत्व में गहरे रूप में जकड़ा रहा और राष्ट्रीय विज्ञान के प्रयासों के बावजूद मेट्रोपोलिटन विज्ञान के प्रतिमान, अभिकरण और विषय–सूचियाँ काम में लाई जाती रही। उपनिवेशवाद ने जिन राजनीतिक सिद्धांतों और संस्थाओं का ढाँचा खड़ा किया था उसमें विज्ञान को सहजतापूर्वक अलग करना संभव नहीं था। अतः यह कथन बिल्कुल सटीक है कि बासल्ला का प्रतिमान उपनिवेशवाद की बाध्यताओं को बड़े हल्केपन में आंकाता है।[8] किसी अन्य व्याख्यात्मक शुक्ति को प्रस्तुत करने में इन बाध्याताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। फिर भी यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान मात्र औपनिवेशिक शक्ति नहीं थे। वे एक वैश्विक प्रभुत्व के पहलू थे और निश्चित ही आज भी है। भारत जैसे विशाल और शक्तिशाली देश के लिए 1950 और 60 के दशक में जवाहरलाल नेहरू जैसे प्रधानमंत्री के शासनकाल में भी, वैज्ञानिक मुक्ति पाना बड़ा कठिन है। आंतरिक तौर पर भी विज्ञान वर्गीय विचारधाराओं और संरचनाओं की अभिव्यक्ति का एक सशक्त कारक रहा और इसमें औद्योगिक संगठन एवं उत्पाउदन की नवीन प्रणालियों के सर्जन, नए पेशेवर और श्रमिक वर्ग की विशिष्ट पहचानों के निर्माण तथा समाज के स्थापित उच्चाकांक्षी विशिष्ट वर्ग के प्रभुत्व की विशेष भूमिका रही। औपनिवेशिक विज्ञान जैसे पद दोषपूर्ण हो सकते है, फिर भी औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में और उसके माध्यम में क्रियाशील सत्ता के विविध प्रौद्योगिकियों को अभिव्यक्ति करने के लिए इस पद का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत होता है।

औपनिवेशिक भारत के संदर्भ में विज्ञान और उसके महत्त्व को समझने का एक अन्य तरीका है उसे आधुनिकता के आइने से से देखना। आधुनिक विश्व के निर्णायक तत्वों की दृष्टि से विज्ञान औपनिवेशिक और भारतीय दोनों अवधारणाओं से घनिष्ठ रूप में जुड़ा था। इसने आधुनिकता के बोध को स्थापित किया और उसे अधिकारिता प्रदान की। ब्रिटिश लोग आरम्भ में तो भारतीय विचारों और आचरणों के प्रति ग्रहणशील रहे, परन्तु 19वीं सदी के आरंभिक वर्षों में वे विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान को अपने सभ्य बनाने के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ और प्रभावी उपकरण के रूप में देखने लगे। यह उसकी श्रेष्ठता–मनोग्रंथि का परिचायक था। वे भारत को पिछड़ा तथा अंधविश्वासग्रस्त देश के रूप में देखते थे और इसके उ़ार को अपना साम्राज्यिक उत्तरदायित्व मानते थे। विज्ञान के संबंध में उनकी इस अवधारणा में ब्रिटेन और भारत के बीच बठते विभेद को हवउा मिली। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति के क्रम में नई प्रौद्योगिकी, विशेषकर वाष्प युग में भाप संचालित जहाज तथा रेल ने इस परिप्रेक्ष्य को बढ़ावा ही दिया।[9] परन्तु यही काम तो पाश्चात्य और देशी आयुर्विज्ञानों में बठते विभेद–भाव तथा दासता भी जंजीरों में जकड़े भारत में अभियांत्रिकी, आयुर्विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा प्रभुत्व बनाए रखने की अपूर्व क्षमता में विश्वास ने भी किया। वायसराय लार्ड कर्जन के समय (1899–1905) विज्ञान के रूपान्तरण और आधुनिकीकरण की क्षमता में विश्वास चरण बिन्दु पर पहुँच गया। यह साम्राज्यवाद के उत्कर्ष का काल था जब इसके सिद्धांतो की अनुगूँज शाही विज्ञान की संस्थाओं और भाषणों में सुनाई पड़ने लगी। तथापि भारत को सभ्य और आधुनिक बनाने की ब्रिटेन की क्षमता में विश्वास अनेक अंतविरोधों में भरा था जिनमें एक अंतर्विरोध विश्वास यह भी था कि भारतीय वैज्ञानिक आधुनिकता के लाभों को ग्रहण करने के लिए अप्रस्तुत थे। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी में पैठ में उत्पन्न प्रतियोगी लाभों में भारत को वंचित रखने के संकल्प और इसे राजाओं, किसानों तथा हस्तकारो का ही देश बने रहने के लिए उद्योगवाद–विरोधी भावना ने भारत को एक हद तक आधुनिक औद्योगिक समाज की विद्यताओं और विक्षोमो में अलग करना।

यह आश्चर्य का विषय नहीं था कि पाश्चात्य विज्ञान और इसके आधुनिकता के संदेश के प्रति भारतीयों में भिन्न–भिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई। परन्तु उनमें से कुछ विशेषकर पश्चिम में शिक्षा प्राप्त लोगों ने भारत के कालांतरण में आह्वान का समर्थन किया और आधुनिकीकरण की योजना के साल जुड़ गए। ज्ञान प्रकाश के शब्दों में ''वैज्ञानिक विवेचन पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त विशिष्ट वर्ग के संलाप का व्यवस्थापक रूपक बन गया। पश्चिम की वैज्ञानिक और आद्योगिक प्रगति में प्रभावित उत्प्रेरित विशिष्ट वर्ग देशी धर्मों और समाज का वैज्ञानिक विवेचन करने लगा। विज्ञान की सांस्कृतिक अधिकारिता तथा विशिष्ट वर्ग को आधुनिकता एवं प्रगति के संवाहक के रूप में मिली स्वीकृति ने संयुक्त रूप में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जनमानस पर अपनी छाप छोड़ी।[10] जैसा कि कुछ अन्य विद्वानों ने दर्शाया है, औपनिवेशिक, आधुनिकता, सांस्थानिक और आर्थिकब सुधारों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि शिक्षा और स्वास्थ्य पारिवारिक जीवन और महिलाओं की भूमिका, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक सुधारों में सम्बद्ध अभिवृत्तियों एवं आचरणों को भी आलोड़ित करने लगी।[11]

परन्तु आधुनिकता उपनिवेशी जनता के लिए समस्या मुक्त नहीं हो सकती थी। आधुनिकता अथवा उसका अर्थ संकोच, आधुनिकीकरण के विषय में प्रायः ऐसा मान लिया गया है कि यह मूलतः पाश्चात्य संस्थाओं, बासल्ला द्वारा प्रतिपादित पाश्चात्य विज्ञान के प्रसार के प्ररूपीकरण में बहुत अंशों में मेल खाती है। लगभग चार दशक पूर्व लूसियन पाई ने आधुंनिकीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि यह समुन्नत प्रौद्योगिकी एवं वैज्ञानिक मानसिकता पर आधारित, जीवन के प्रअित युक्तिसंगत दृष्टिकोण, सामाजिक संबंधों में सहिष्णुता का भा, सार्वजनिक मामलों में न्यायप्रियता तथा सबसे बठकर, राजनीतिक क्षेत्र में इस विश्वास का स्वीकरण है कि राज्य–व्यवस्था की प्रधान इकाई राष्ट्र–राज्य है।[12] औपनिवेशिक शासन के अधीन भारतीयों को इस विषय सूची में अनेक का समर्थन करने में कोई कठिनाई नहीं थी, फिर भी उन्हें ऐसा लगता रहा कि आधुनिकता एक ऐसी अभीप्सा है जिसे वे पूरे नहीं कर सकते उनके मान ममें यह आशंका बनी रही कि औपनिवेशिक अधिकारियों, ईसाई धर्म प्रचारको, शिक्षाविदों और वैज्ञानिकों द्वारा पूर्वाग्रह के साथ प्रस्तुत आधुनिकता का स्वीकरण उन्हें निरन्तर संरक्षण और अधीनता में जकड़ कर रखेगा और वे हमेशा एक कदम पीछे, दूसरी श्रेणी के पाश्चात्य आदर्श की आंशिक अनुकृति बने रहेगे। पार्थ चटर्जी का प्रश्न है, यह कैसे संभव हुआ कि भारतीय ने एक ही साथ उपनिवेशवादी पश्चिम की आधुनिकता को स्वीकार एवं आत्मसात भी किया और औपनिवेशिक सत्ता तथा उसकी हीन भारतीयता के भाव का विरोध भी। इसके उत्तर में उसका निष्कर्ष है कि राष्ट्रवाद ने एक सवाल पैदा किया.....जिसने राजनीतिक प्रभुत्व में औपनिवेशिक दावे को चुनौती दी। आधुनिकता में जिन सूत्र वाक्यों पर औपनिवेशिक प्रभुत्व आधारित था उनको भी स्वीकार कर लिया।[13] यह एक पहेली जान पड़ती है और अधुनातन विद्वानों ने अनेक प्रकार में इसका समाधान करने की चेष्टा की है। एक समाधान तो वही है जिसे ज्ञान प्रकाश ने प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार विज्ञान की सत्ता को पुनर्व्यवस्थित और भारतीय समाज की आवश्यकताओं तथा मुहावरो के अनुरूप अनुवादित होना ही था। पश्चिम के द्वारा प्रस्तुत उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता था। एक अन्य समाधान के रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिकता कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसका पश्चिम में पेटेंट कर लिया है और विश्वभर में उसकी फुटकर बिक्री कर रहा है। इसके विपरीत यह नाना आकार ग्रहण करने में समर्थ है। इसके अनेक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूप भेद होते हैं और वे सभी पश्चिमी विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आयुर्विज्ञान में अनिवार्यतः बहुत कुछ ग्रहण तो करते हैं, परन्तु अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं और स्थानीय ज्ञान–प्रणालियों को भी उसमें समाविष्ट कर देते हैं। परिणामतः भारत जैसा देश अपनी सांस्कृतिक विरासतों और विशिष्ट अपेक्षाओं के अनुरूप अपनी आधुनिक पहचान बनाने में समर्थ होता है।[14]

निष्कर्ष

19वीं सदी और 20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में भारतीय वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों ने भारतीय आधुनिकता का निजी ब्रांड बनाने के भरसक प्रयत्न किए। इसके लिए उन्होंने हिन्दू विचारोंऔर परम्पराओं को चयनात्मक विधि में समाविष्ट किया भले ही इस प्रक्रिया में निहित घटको का मिश्रण, वर्णशंकरता की मात्रा उदीयमान वैज्ञानिक समुदाय में भी भिन्न–भिन्न रही। तथापि, इस प्रक्रिया में भारत मेंविज्ञान को अधिकारिता एवं स्वत्व में नए बोध तो हुए परन्तु इसने नई दुविधाएँ और नए प्रतिरोध केन्द्र भी खड़े कर दिए। औपनिवेशिक युग में अवसान के बाद भी यह स्पष्ट नहीं हो सका कि वैज्ञानिक आधुनिकता ने स्वयं भारत के अन्दर किस सीमा तक सर्वानुमति पाई और भारतीय मूल्यों में अनुप्राणित विज्ञान किस सीमा तक पश्चिमी प्रभुत्व में पले–पनपे वैज्ञानिक समुदाय में स्वीकृति प्राप्त कर पाया। एक ओर जहाँ जवाहरलाल नेहरू जैसे कतिपय राष्ट्रवादी राजनेताओं ने अपने को विज्ञान की वेदी का उपासक घोषित किया और उसे भारतीय आधुनिकता का अभिकर्त्ता और प्रतीक माना वहीं कुछ दूसरों ने भारत के लिए पराए विज्ञान और अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी वासी आधुनिकता को नकार दिया। ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ आज के भारत में भी किसी–न–किसी रूप में विद्यमान है।

संदर्भ :

1. जार्ज बासल्ला, द स्प्रेड ऑफ वेर्स्टन साइंस, साइंस संस्था 156 (1967) पृ–611–22
2. माइकेल अडास, टेस्टिंग बासल्लास पैराडाइम : कॉलानियलिज्म एण्ड द डिफ्यूजन ऑफ साइंस इन ब्रिटिश इण्डिया, अगस्त–1993, पृ–36
3. नैंसी स्टीपन, बिगनिंग ऑफ ब्राजिलियन साइंस, ओस्वाल्डो क्रूज, पेडिकल रिसर्च एण्ड पॉलिसी 1890–1920 (न्यूयार्क–1976) पृ–14–40
4. ध्रुवरैना एण्ड एस इर्फान हबीब, द अनफोल्डिग ऑफ एन इन्गेजमेट : द डाउन ऑन सांइस, टेकनीकल एजुकेशन एण्ड इंडस्ट्रियलाइजेशन, इण्डिया, 1896–1912 एस. एच 9(1993) पृ–87–88
5. रिचर्ड ग्रोव, इंडियजेनस नॉलेज एण्ड द सिगनिफिकेंस ऑफ साउथ वेस्ट इण्डिया फार द पोर्तुगीज एण्ड डच कास्ट्रक्शन ऑफ ऑफिकल नेचर (दिल्ली 1998) पृ– 187–209
6. रॉय मैक्लिअंड, ऑन विजिटिंग द मूविंग मेओपोलिस रिफ्लेक्शंस ऑन द आर्किटैक्चर ऑफ इंजीरियल साइंस, (1982) पृ–16–16
7. सतपाल संगवान, फ्राम जेंटलमेन एमेच्युर्स टु प्रोफेशनल्स 1780–1840, पृ–227
8. आर.के कोचर, साइंस ऐज टूल इन ब्रिटिश इण्डिया, इकॉनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 17 अगस्त, 1991, पृ–1933
9. माइकेल अडास, मशीज ऐज दपेजर ऑफ पेन (न्यूयार्क 1889) अध्याय–3–4
10. ज्ञान प्रकाश, साइंस बिटविन द साइंस
    शाहिद अमीन एण्ड दीपेश चक्रवर्ती, सबएल्टर्न स्टडीज IX (दिल्ली 1996) पृ–60
11. दीपेश चक्रवर्ती, द डिफरेंस–डेफरल ऑफ ए कॉलोनियम मॉडर्निटी, सबएल्टर्न स्टडीज VIII(दिल्ली 1994) पृ–50–88
12. लूसिअन डब्लू. पाई, ऐस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल डेवलमेंट (1965) पृ–8
13. पार्थ चटर्जी, नेशलेलिस्ट थॉट एण्ड द कॉलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवाटिव डिस्फोर्स (लन्दन 1986) पृ–30
14. पार्थ चटर्जी, आवर मॉडर्निटी (दिल्ली 1997) पृ–193–210